ISSN: 2582-5526 www.thevoiceofcreativeresearch.com

The Voice of Creative Research

Vol. 8 & Issue 1 (January-March 2026)

OPEN ACCESS PEER REVIEW

https://doi.org/10.53032/tvcr/2026.v8n1.01

दण्ड की पराकाष्ठा के रूप में मृत्युदण्ड : ऐतिहासिक, संवैधानिक एवं मानवाधिकार के परिप्रेक्ष्य में एक समालोचनात्मक अध्ययन

सुरेश कुमार
(शोधार्थी)
विधि विभाग।
तिलकधारी सिंह स्नातकोतर विधि महाविद्यालय, पीली कोठी,जौनपुर।

प्रोफेसर (डॉ) संतोष कुमार सिंह
विधि विभाग
तिलकधारी सिंह स्नातकोत्तर विधि महाविद्यालय, पीली कोठी, जौनपुर

सार (Abstract)

मृत्युदण्ड आधुनिक दण्ड-व्यवस्था में सबसे कठोर, अपूरणीय और नैतिक विवादों से घिरा दण्ड है। इसका प्रयोग न केवल अपराध-नियंत्रण और सामाजिक सुरक्षा के तर्क पर आधारित माना जाता है, बल्कि यह सत्ता, वैधानिकता, नैतिकता और मानवाधिकार के जटिल प्रश्नों को भी उद्भूत करता है। यह शोध-पत्र मृत्युदण्ड की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय समाज में उसके स्वरूप, औपनिवेशिक शासन द्वारा उसके वैधीकरण, तथा स्वतंत्र भारत के संवैधानिक-संदर्भ में उसकी स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। "विरल से विरलतम" सिद्धांत, न्यायिक त्रुटि की संभावना, मानव-गरिमा, पुनर्वास-आधारित न्याय-दर्शन और वैश्विक उन्मूलन-प्रवृत्तियों के आलोक में यह अध्ययन इस बात की समालोचनात्मक पड़ताल करता है कि क्या मृत्युदण्ड अपराध-निवारण का प्रभावी उपाय है, या फिर यह एक अमानवीय एवं असंगत दण्ड है। अध्ययन का निष्कर्ष इस विचार को पुष्ट करता है कि आजीवन कारावास,

पुनर्वास, सामाजिक-न्याय और मानवीय संवेदना पर आधारित दण्ड-मॉडल आधुनिक लोकतांत्रिक समाज के लिए अधिक न्यायोचित एवं उपयुक्त विकल्प सिद्ध होता है।

मुख्य शब्द: मृत्युदण्ड, मानवाधिकार, संविधान, दण्ड-दर्शन, न्यायिक त्रुटि, विरल से विरलतम

1. भूमिका (Introduction)

मानव समाज में दण्ड की अवधारणा न्याय, नैतिकता और सामाजिक नियंत्रण से घनिष्ठ रूप से जुड़ी रही है। प्रारम्भिक समाजों में दण्ड प्रतिशोध, प्रतिकार और भय-सृजन पर आधारित था, जबकि आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में दण्ड का उद्देश्य केवल दमन नहीं, बल्कि सामाजिक सुरक्षा, अपराध-निवारण, सुधार और पुनर्वास भी माना जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में मृत्युदण्ड – जिसमें विधिक प्रक्रिया द्वारा अपराधी के जीवन का अंत कर दिया जाता है – दण्ड की चरम सीमा का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी अपरिवर्तनीय प्रकृति, न्यायिक भूल की संभावना तथा मानव-गरिमा पर प्रतिकूल प्रभाव के कारण यह आज भी गहन विमर्श का विषय बना हुआ है। भारतीय विधि-व्यवस्था मृत्युदण्ड को पूर्णतः समाप्त नहीं करती, किंतु सर्वोच्च न्यायालय ने इसे केवल “विरल से विरलतम” मामलों तक सीमित रखने पर बल दिया है। फिर भी यह प्रश्न अनुत्तरित नहीं रहा कि क्या किसी लोकतांत्रिक राज्य को जीवन हरने का नैतिक अधिकार प्राप्त है, जबकि वही संविधान जीवन के संरक्षण की गारंटी देता है। यही वैचारिक द्वंद्व इस शोध का केंद्र-बिंदु है।

2. दण्ड-दर्शन और मृत्युदण्ड का औचित्य

दण्ड-नीति के सिद्धांत चार प्रमुख उद्देश्यों – प्रतिशोध, प्रतिरोध, सुधार एवं पुनर्वास – पर आधारित माने जाते हैं। मृत्युदण्ड के समर्थक इसे प्रतिरोध और प्रतिशोध के सर्वाधिक प्रभावी साधन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनका तर्क है कि कठोर दण्ड से समाज में भय उत्पन्न होता है और गंभीर अपराधों पर नियंत्रण संभव होता है। किन्तु आलोचनात्मक दृष्टि यह प्रश्न उठाती है कि अपराध केवल व्यक्तिगत इच्छा का परिणाम नहीं होता; यह सामाजिक विषमता, आर्थिक अभाव, मानसिक स्थिति, सांस्कृतिक संरचनाओं और अवसर-असमानताओं से भी प्रभावित होता है। ऐसे में भय-आधारित दण्ड-नीति अपराध के मूल कारणों को संबोधित नहीं कर पाती। सुधारात्मक न्याय-दर्शन इस विचार पर आधारित है कि अपराधी **पूर्णतः असंभावित मनुष्य नहीं**, बल्कि परिस्थितियों का उत्पाद भी हो सकता है, और उसमें परिवर्तन

की संभावना जीवित रहनी चाहिए। मृत्युदण्ड इस संभावना का समापन कर देता है, इसलिए इसे सुधारात्मक न्याय के विपरीत माना जाता है।

3. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य: दण्ड और सत्ता

इतिहास में मृत्युदण्ड का प्रयोग केवल न्यायिक उद्देश्य से ही नहीं, बल्कि सत्ता-प्रदर्शन और सामाजिक अनुशासन बनाए रखने के उपकरण के रूप में भी हुआ। मध्ययुगीन यूरोप और एशिया में सूली पर चढ़ाना, दहन-दण्ड, अंग-भंग, तथा सार्वजनिक फाँसी जैसी पद्धतियाँ इस तथ्य को इंगित करती हैं कि दण्ड कई बार **न्याय से अधिक दहशत-स्थापना** का माध्यम बन गया था। मानवाधिकार-चेतना के उदय के साथ इन पद्धतियों को क्रूर और अमानवीय माना गया, किंतु यह प्रश्न यथावत रहा कि क्या "मानवीय विधि" से दी गई मृत्यु भी नैतिक रूप से न्यायोचित है।

4. प्राचीन भारतीय समाज और मृत्युदण्ड

धर्मशास्त्रीय परंपराएँ दण्ड को सामाजिक-नैतिक अनुशासन और धर्म-स्थिरता से जोड़ती हैं। मनु, नारद और याज्ञवल्क्य-स्मृति में हत्या, राज्य-विरोध, जघन्य आक्रमण जैसे अपराधों के लिए मृत्युदण्ड का उल्लेख मिलता है। तथापि प्राचीन व्यवस्था में दण्ड का स्वरूप **क्रमिक और विवेकाधीन** था – कई मामलों में अर्थदण्ड, देश-निकाला या कारावास जैसे विकल्प अपनाए जाते थे। यह इंगित करता है कि मृत्युदण्ड सर्वव्यापी दण्ड नहीं था, बल्कि विशिष्ट परिस्थितियों में ही प्रयुक्त होता था।

5. मुगलकालीन न्याय-व्यवस्था

मुगलकालीन दण्ड-प्रणाली इस्लामी विधि-परंपरा से प्रभावित थी, जहाँ अपराधों को क़िसास, दियत, हद, ताज़ीर और सियासत की श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता था। क़िसास के अधीन हत्या के मामलों में मृत्युदण्ड संभव था, किंतु कई बार क्षतिपूर्ति अथवा समझौते जैसी वैकल्पिक व्यवस्थाएँ भी उपलब्ध रहती थीं। इसके बावजूद सत्ता-केन्द्रीकृत निर्णय-प्रक्रिया के कारण दण्ड का अनुपात कई बार **अत्यधिक कठोर** हो जाता था, जो न्यायिक निष्पक्षता पर प्रश्न खड़े करता है।

6. औपनिवेशिक भारत और मृत्युदण्ड का वैधीकरण

ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीय दण्ड संहिता, 1860 ने मृत्युदण्ड को विधिक स्वरूप प्रदान किया। हत्या, राजद्रोह और कुछ जघन्य अपराधों में इसे निर्धारित किया गया। औपनिवेशिक

प्रशासन के दौरान दण्ड का प्रयोग कभी-कभी सत्ता-नियंत्रण और राजनीतिक दमन के औजार के रूप में हुआ, जिससे मृत्युदण्ड की नैतिक वैधता पर गंभीर प्रश्न उभरे। इस कालखंड ने यह स्पष्ट किया कि दण्ड-प्रणाली कई बार **औपनिवेशिक सत्ता-संरचना** का अंग बन जाती है।

7. स्वतंत्र भारत में संवैधानिक स्थिति

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 21 न्याय, समानता एवं जीवन-अधिकार की संवैधानिक गारंटी प्रदान करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने "**बच्चन सिंह बनाम पंजाब राज्य (1980)**" में मृत्युदण्ड को संवैधानिक तो माना, पर उसे "**विरल से विरलतम**" परिस्थितियों तक सीमित रखने का सिद्धांत प्रतिपादित किया। बाद के निर्णयों में न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि दण्ड का चयन करते समय अपराध की प्रकृति के साथ-साथ अपराधी की पृष्ठभूमि, सामाजिक परिस्थितियाँ और पुनर्वास की संभावना पर भी विचार किया जाना चाहिए। फिर भी "विरल से विरलतम" की अवधारणा अपने-आप में **व्याख्यात्मक और व्यक्तिपरक** बनी रहती है, जिससे न्यायिक विवेक में अंतर की संभावना बनी रहती है।

8. वैश्विक परिप्रेक्ष्य और उन्मूलन आंदोलन

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात मानवाधिकार-चेतना के विस्तार ने मृत्युदण्ड-विरोधी आंदोलनों को गति दी। यूरोपीय संघ, लैटिन अमेरिका और अफ्रीका के कई देशों ने इसे समाप्त किया या व्यवहार में लागू करना बंद कर दिया। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने समय-समय पर इसके निलंबन और उन्मूलन की सिफारिश की। इसके विपरीत कुछ देशों में आतंकवाद और राष्ट्रीय सुरक्षा के तर्क पर इसका प्रयोग जारी है। यह अंतरराष्ट्रीय विभाजन दर्शाता है कि मृत्युदण्ड का प्रश्न केवल कानूनी नहीं, बल्कि **नैतिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विमर्श** से भी जुड़ा है।

9. मानवाधिकार विमर्श और नैतिक दुविधाएँ

मानवाधिकार दृष्टिकोण जीवन-अधिकार को **अविच्छिन्न और मौलिक** मानता है। इस दृष्टि से राज्य यदि दण्ड के नाम पर जीवन हरता है, तो वह नैतिक रूप से उसी हिंसा का सह-भागी बन जाता है, जिसे रोकने का दावा करता है। एमनेस्टी इंटरनेशनल तथा अन्य संगठनों ने मृत्युदण्ड को "क्रूर, अमानवीय और अपमानजनक" दण्ड की संज्ञा दी है। गांधी और अंबेडकर के विचार भी प्रतिशोध-प्रधान न्याय के स्थान पर **करुणा, समान अवसर और सामाजिक-न्याय** को प्राथमिकता देने की दिशा में संकेत करते हैं। यह भी तथ्य उल्लेखनीय है कि मृत्युदण्ड प्रायः

आर्थिक रूप से वंचित, सामाजिक रूप से कमजोर और हाशिये पर स्थित समूहों पर असमान रूप से लागू होता है।

10. न्यायिक त्रुटि और अपरिवर्तनीयता का जोखिम

मृत्युदण्ड के विरुद्ध सबसे मजबूत तर्क **न्यायिक त्रुटि** की संभावना है। साक्ष्य की कमजोरी, झूठी गवाही, पक्षपाती जाँच या तकनीकी भूल के कारण निर्दोष व्यक्ति को भी दोषी ठहराया जाना संभव है। यदि ऐसी स्थिति में मृत्युदण्ड लागू हो जाए, तो त्रुटि सुधार की कोई संभावना नहीं रहती। आजीवन कारावास में पुनर्विचार, पुनर्विलोकन या क्षमादान की गुंजाइश रहती है, परंतु मृत्युदण्ड **पूर्णतः अपरिवर्तनीय** है – यही इसकी सबसे संवेदनशील नैतिक समस्या है।

11. मृत्युदण्ड और आजीवन कारावास: तुलनात्मक दृष्टि

अनुसंधानों से संकेत मिलता है कि मृत्युदण्ड का अपराध-दर पर दीर्घकालिक प्रभाव निर्णायक रूप से प्रमाणित नहीं हो पाया है। इसके विपरीत आजीवन कारावास अपराधी को समाज से पृथक रखते हुए भी उसे **मानवीय गरिमा और आत्म-चिंतन** की संभावना से वंचित नहीं करता। पुनर्वास-आधारित कार्यक्रमों, सुधारात्मक शिक्षा और मनो-सामाजिक परामर्श के माध्यम से अपराधी के व्यवहार-परिवर्तन की संभावना बढ़ाई जा सकती है – जो मृत्युदण्ड में असंभव हो जाती है।

12. निष्कर्ष एवं नीतिगत सुझाव

समग्र विश्लेषण से स्पष्ट है कि मृत्युदण्ड ऐतिहासिक परंपरा का अवशेष होते हुए भी आधुनिक संवैधानिक एवं मानवाधिकार मूल्यों से पूर्णतः संगत नहीं ठहरता। इसकी अपरिवर्तनीय प्रकृति, न्यायिक त्रुटि का जोखिम, सामाजिक-असमानताओं का प्रभाव और नैतिक दुविधाएँ इसे अत्यंत जोखिमपूर्ण दण्ड बनाती हैं।

नीतिगत स्तर पर निम्न सुझाव प्रासंगिक प्रतीत होते हैं–

1. **विरल से विरलतम सिद्धांत को और कठोर मानदंडों से परिभाषित** किया जाए।
2. मृत्युदण्ड के स्थान पर **आजीवन कारावास और पुनर्वास-आधारित दण्ड-मॉडल** को प्राथमिकता दी जाए।
3. जाँच एवं न्यायिक प्रक्रियाओं में **वैज्ञानिक साक्ष्य, पारदर्शिता और जवाबदेही** को सुदृढ़ किया जाए।

4. अपराध-निवारण हेतु **शिक्षा, सामाजिक-आर्थिक सुधार और मनो-सामाजिक समर्थन** को समान महत्व दिया जाए।
5. मानवाधिकार-आधारित न्याय-दृष्टि को नीतियों और कानूनी सुधारों में समाहित किया जाए।

इन्हीं उपायों के माध्यम से न्याय-व्यवस्था दण्डात्मक होने के साथ-साथ **मानवीय, संवेदनशील और न्यायोचित** स्वरूप ग्रहण कर सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

Ambedkar, B. R. (1994). Writings and speeches (Vol. 3). New Delhi: Government of Maharashtra.

Amnesty International. (2023). Death sentences and executions. London: Amnesty International Publications.

Bacchan Singh v. State of Punjab, (1980) 2 SCC 684 (Supreme Court of India).

Banerjee, A. (2010). Capital punishment in India: Constitutional perspectives. Indian Journal of Constitutional Law, 4(1), 75–92.

Bhargava, R. (2018). Politics and ethics of the Indian Constitution. New Delhi: Oxford University Press.

Kant, I. (1996). The metaphysics of morals (M. Gregor, Trans.). Cambridge, UK: Cambridge University Press. (Original work published 1797)

Law Commission of India. (2015). Report No. 262: The death penalty. New Delhi: Government of India.

Mishra, S. K. (2019). मृत्युदण्ड और मानवाधिकार: भारतीय विधिक व्यवस्था का समालोचनात्मक विश्लेषण [Death penalty and human rights: A critical analysis of Indian legal system]. भारतीय विधि समीक्षा, 11(2), 41-56.

Nath, R. (2020). Rarest of rare doctrine: Judicial discretion and capital punishment in India. Journal of Indian Law and Society, 9(1), 113–130.

Nussbaum, M. C. (2006). Frontiers of justice: Disability, nationality, species membership. Cambridge, MA: Harvard University Press.

Pandey, A. (2021). मृत्युदण्ड: दण्ड-दर्शन, संवैधानिकता एवं न्यायिक समीक्षा [Capital punishment: Penology, constitutionality, and judicial review]. वाराणसी: ज्ञानभारती प्रकाशन।

Radelet, M. L., & Borg, M. J. (2000). The changing nature of death penalty debates. Annual Review of Sociology, 26, 43–61.

ISSN: 2582-5526 www.thevoiceofcreativeresearch.com

The Voice of Creative Research

Vol. 8 & Issue 1 (January-March 2026)

Sanghvi, S. (2017). Human dignity and the death penalty in India. National Law School Journal, 29(1), 59–78.

Schabas, W. A. (2002). The abolition of the death penalty in international law (3rd ed.). Cambridge, UK: Cambridge University Press.

Sen, A. (2009). The idea of justice. Cambridge, MA: Harvard University Press.

Sharma, R. (2018). मानवाधिकार और दण्ड-विचार: समकालीन परिप्रेक्ष्य [Human rights and penal philosophy: A contemporary perspective]. नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान।

UN General Assembly. (2007). Resolution 62/149: Moratorium on the use of the death penalty. New York, NY: United Nations.

United Nations Human Rights Committee. (2019). General Comment No. 36: Right to life (Article 6). Geneva: United Nations.

Verma, S. (2022). Death penalty, social inequality and access to justice in India. Asian Journal of Criminology, 17(3), 421–439.

Zimring, F. E., & Hawkins, G. (1986). Capital punishment and the American agenda. Cambridge, UK: Cambridge University Press.